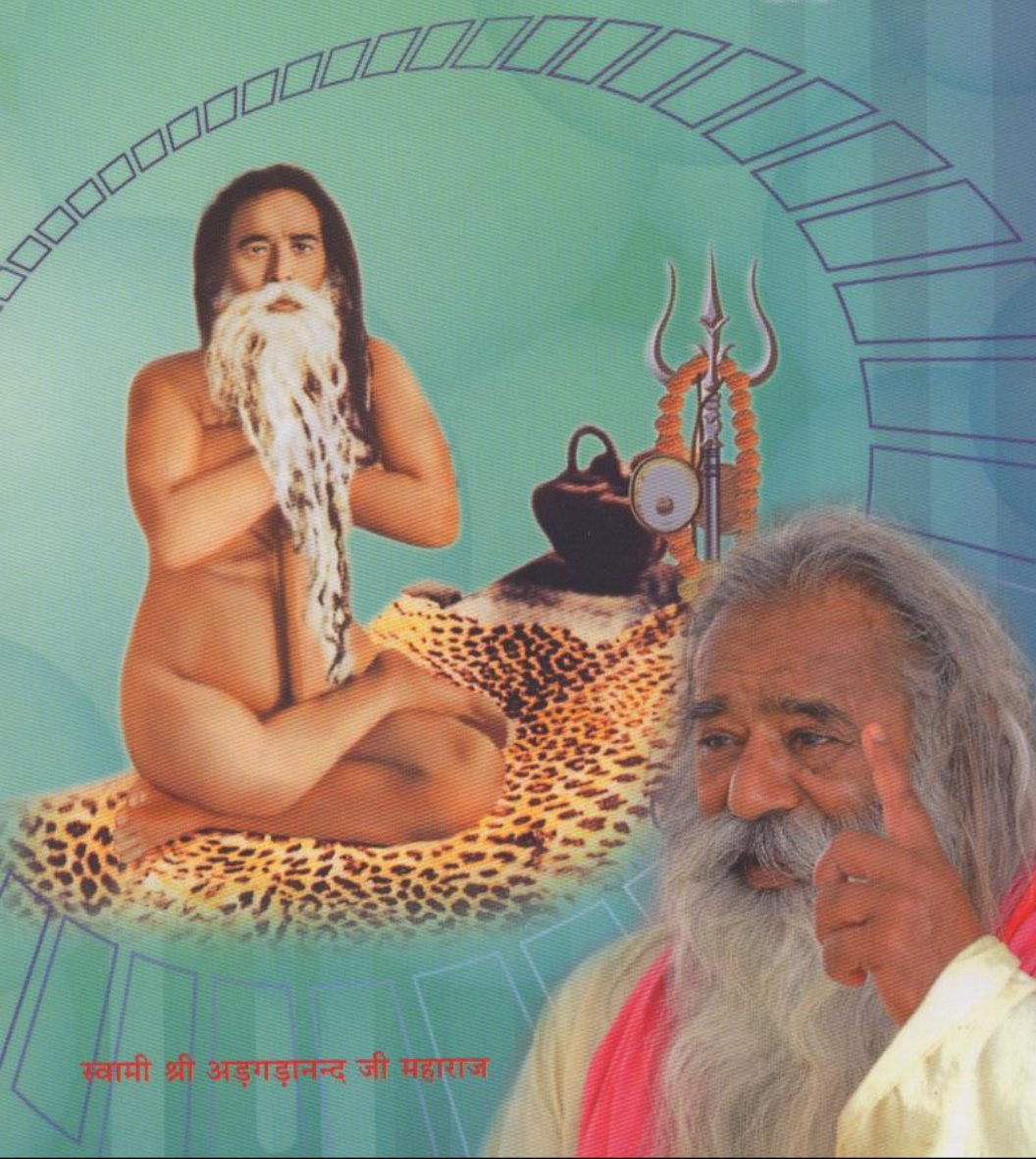


मैं कौन हूँ ?



स्वामी श्री अङ्गडानन्द जी महाराज

॥ ॐ नमः सद्गुरुदेवाय ॥

मैं कौन हूँ?

प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या :

परमपूज्य श्री परमहंस महाराज का कृपा-प्रसाद

स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी

श्री परमहंस आश्रम

ग्राम-पत्रालय- शक्तेषगढ़, जिला-मिर्जापुर, उ०प्र०, भारत

फोन : (०५४४३) २३८०४०

प्रकाशक :

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

अनन्तश्री विभूषित,
योगिराज, युग पितामह

परमपूज्य श्री स्वामी परमानन्द जी

श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया (चित्रकूट)

के परम पावन चरणों में सादर समर्पित

अन्तःप्रेरणा

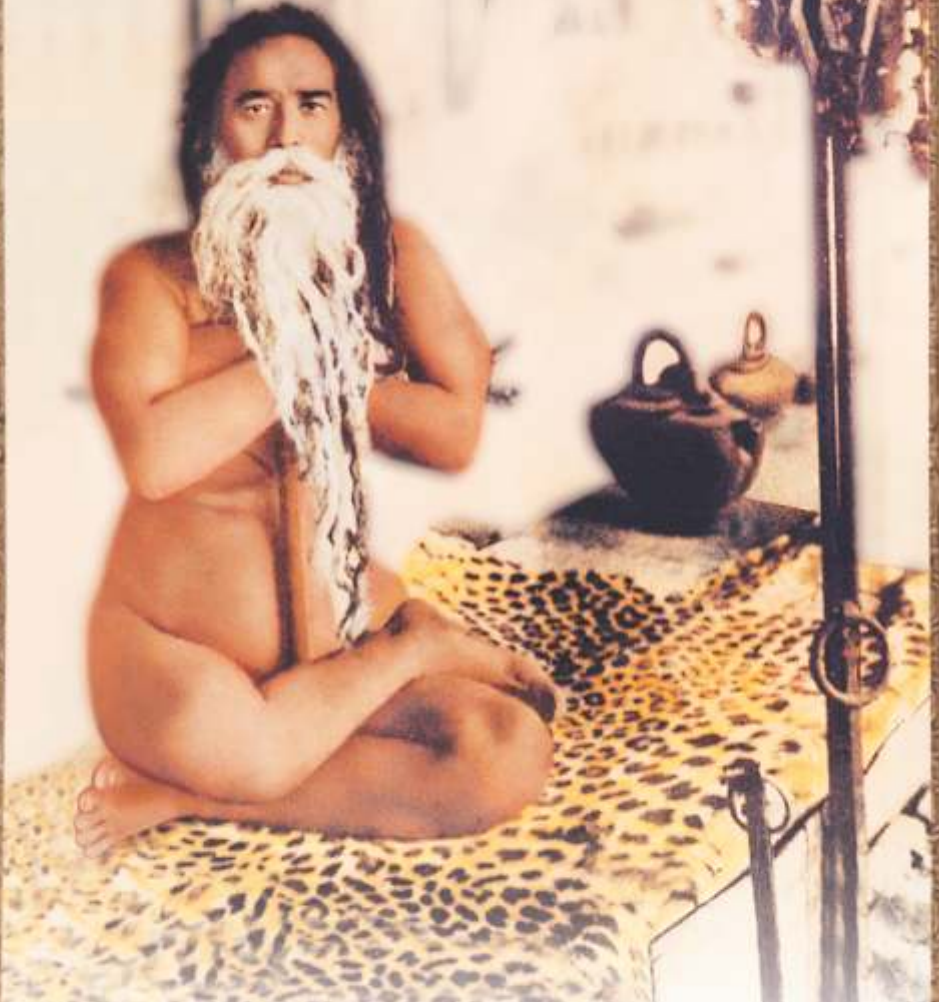
गुरु-वन्दना

॥ ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय ॥

जय सद्गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी॥
सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।
अमरापुर वासी, सब सुख राशी, सदा एकरस निर्विकारी॥
अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।
योगी अद्वेष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी॥
चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी॥
हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी॥
यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।
जय सद्गुरु.....भारी॥

॥ ॐ ॥

आत्मने मोक्षार्थं जगत् हिताय च



श्री श्री 1008 श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)

जन्मः शुभ सम्बत् विक्रम 1969 (1911 ई.)

महाप्रयाण ज्येष्ठ शुक्ल 7, 2026, दिनांक 23/05/1969 ई.

परमहंस आश्रम अनुसुइया, चित्रकूट



श्री स्वामी अड़गड़ानन्द जी महाराज

॥ ॐ श्री सद्गुरुदेवाय नमः ॥

मैं कौन हूँ?

दिनाङ्क 6 जुलाई 2010 ई0 को श्री परमहंस आश्रम शक्तेषगढ़, मिर्जापुर, उत्तर प्रदेश में प्रातःकालीन प्रवचन के समय एक श्रद्धालु ने प्रश्न किया कि उन्होंने महात्माओं से सुना है कि 'पता लगाओ, मैं कौन हूँ?', 'अपने को पहचानो।'। लोग कहते हैं कि मैं खाता हूँ, मैं पढ़ता हूँ, मैं खेलता हूँ, मैं सोता हूँ तो 'मैं' शब्द से वे अपने ही शरीर को सम्बोधित करते हैं किन्तु हम-आप देह तो हैं नहीं क्योंकि जन्म से पूर्व, सो जाने पर, बेहोश हो जाने पर या मृत्यु के पश्चात् यह ज्ञान नहीं रहता कि मैं कौन हूँ? इसके लिए कुछ उपाय भी प्रचलन में हैं; जैसा कि अन्तर्मुखी होकर अपने से पूछें कि मैं कौन हूँ? इसके उत्तर में मन में जो स्वरूप बनता है उसका निरन्तर ध्यान करें। वही आपका निज स्वरूप है। किन्तु यह एक कल्पना है। बहुत से लोग 'मैं कौन हूँ, मैं कौन हूँ....' इस प्रश्न का मंत्र की तरह जप भी करते हैं, क्या इससे विदित हो जायेगा कि मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है?

पूज्य महाराजश्री ने बताया कि ऋषि-महर्षि अनादिकाल से इस प्रश्न को सुलझाते रहे हैं कि 'मैं कौन हूँ?'। वेदान्त का तो यह प्रिय विषय ही है कि 'कोऽहं कथमिदं जातं'— मैं कौन हूँ और 'इदम्'— यह संसार क्या है? 'कः पन्था'— मार्ग कौन है? हमारा कर्तव्य-पथ क्या है? ये तीनों प्रश्न अध्यात्म की आधारशिला हैं।

यह तो प्रत्यक्ष ही है कि आप शरीर नहीं हैं। शरीर तो क्षणभंगुर है, नश्वर है—

पानी केरा बुदबुदा, मानुष धरिया नामा।

चार दिना का पाहुना, बढि बढि रूँधे ठाम।

यह शरीर पानी के बुलबुले सदृश है, इसका 'मनुष्य' ऐसा नामकरण किया गया है। 'चार दिना का पाहुना'— इसका जीवन चार दिनों के अतिथि के समान है; फिर भी 'बढि बढि रूँधे ठाम'— जीवन के अन्तिम क्षणों तक

यह सब कुछ यहीं छोड़कर चुपचाप आगे बढ़ जाता है। शरीर तो यही रह जाता है, प्रबन्ध करनेवाला चला जाता है। शरीर आप तो नहीं हुए!

सन्त कबीर एक पद में कहते हैं—

यह संसार ओस का पानी, जात न लागत बारा।
कहे कबीर सुनो भाई साधो, हरि भज उतरो पारा।
जोबन धन पाहुणा दिन चारा॥

‘यह संसार ओस का पानी।’- शीतकाल में फसल की पत्तियों की नोंक पर मोतियों की तरह चमकती हुई ओस की बूँदें दिखायी देती हैं। उनके बीच से जाने पर आप भीग जायेंगे किन्तु सूर्य की पहली किरण के साथ ही वे बूँदें जमीन पर गिर पड़ती हैं और आधे घण्टे पश्चात् तो जैसे वहाँ कुछ था ही नहीं, सब वाष्प बनकर उड़ जाता है। संसार भी इतना ही अस्तित्वहीन है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भगवान शंकर का अनुभव लिपिबद्ध किया—
‘उमा कहहुँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना॥’
(रामचरितमानस, 3/38/5)— हे पार्वती! मैं अपना निजी अनुभव कहता हूँ, सत्य हरि है, हरि का भजन है। जगत् तो एक सपना है। कोई स्वप्न घड़ी-दो घड़ी का होता है, यह अस्सी-नब्बे साल का है। ‘सोड़ पुर पाटन बहुरि न देखा आइ’— शरीर छूटने के पश्चात् कोई वहाँ देखने नहीं आता।

सन्त कबीर कहते हैं—

कबिरा गर्व न कीजिए, ऊँचे देखि अवास।
काल पड़े भुईँ लोटना, ऊपर जाँमै घास॥

आज नहीं तो कल, इस जमीन में लिटा दिये जाओगे, ऊपर घास जम जायगी— श्मशानों में घास ही तो जम रही है।

यह संसार कागज की पुड़िया बूँद पड़े घुल जाना है।....
यह संसार झाड़ और झाँखड़ उलझि-उलझि मर जाना है।
रहना नहीं देस बिराना है।

‘रेजगारों में बगूलों के सिवा कुछ भी नहीं।’— संसार (रेजगार) तपते रेगिस्तान में (बगूलों) धूलभरी आँधी की छाया के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।

यह निर्णय सृष्टि के आदिशास्त्र गीता का है— श्रीमद्भगवद्गीता जो सृष्टि के आरम्भ में भगवान के श्रीमुख से प्रसारित हुआ। मनुष्य तब दुनिया में था ही नहीं। दो हाथ-पैरवाला मानव तन दुनिया में नहीं चल रहा था क्योंकि महाराजा मनु से जायमान मनुज कहलाता है। मनु के औरस पुत्रों की वंश-परम्परा में होने से हम-आप मनुज कहलाते हैं। मनु महाराजा थे। महाराजा का पुत्र राजपुत्र ही कहलायेगा, न कि धोबी या अन्य कुछ। अतः शारीरिक रक्त-सम्बन्ध से उत्पन्न सब राजपूत हैं, व्यवसाय चाहे जो कर लें!

‘गीता’ में भगवान श्रीकृष्ण ने बताया— अर्जुन! शरीर एक वस्त्र है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय

नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-

न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ (2/22)

जैसे जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को त्यागकर मनुष्य नये वस्त्र धारण कर लेता है, ठीक इसी प्रकार भूतादिकों का स्वामी जीवात्मा शरीररूपी वस्त्र को त्यागकर नवीन शरीर धारण कर लेता है। एक शरीर छूटा तो दूसरा तैयार! शरीरों का तो समुद्र लहरा रहा है। यही भवसागर है। अर्जुन! शरीर नाशवान है, इसलिए तू युद्ध कर। (2/18) जब मारने से शरीर का अन्त होगा ही नहीं तो कैसा है यह युद्ध? वास्तव में यह अन्तःकरण की लड़ाई है। शरीर छूटा तो शरीर तैयार है; क्योंकि शरीर का आधार है संस्कार! यदि एक भी संस्कार शेष है तो जैसा संस्कार वैसा शरीर तैयार मिलेगा। अन्तिम संस्कार का मिट जाना और शरीरों के पुनर्निर्माण के कारणों का समाप्त हो जाना— दोनों एक ही साथ घटित होते हैं। संस्कार जिस पर अङ्कित होता है वह है चित्त। ज्योंही चित्त का निरोध हुआ, अन्तिम संस्कार मिटा, संस्कार-निर्माण का कारण ही समाप्त हो गया। भगवान आपको वह दृष्टि देंगे जिस दिव्यदृष्टि से भगवान देखे जाते हैं। वह आपमें दृष्टि देंगे, सामने स्वयं खड़े हो जायेंगे। आप नहीं भी समझेंगे तो वह समझा लेंगे। उनका दर्शन, स्पर्श, उसमें प्रवेश और स्थिति मिल जायेगी। सहज भगवत् स्वरूप में आत्मदर्शन और आत्मतृप्ति मिल गयी। वही आपका स्वरूप है, वही आप हैं। ऋषियों ने भी इसी स्वरूप की ओर इंगित किया था कि तुम अपने को पहचानो।

भगवान् श्रीकृष्ण पुनः कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ (15/7)

अर्जुन! ‘जीवलोके’ अर्थात् इस देह में जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है—उतना ही पावन जितना भगवान्! किन्तु यह मनसहित इन्द्रियों के व्यापार को लेकर एक शरीर को त्यागकर दूसरा शरीर धारण कर लेता है और अगले जन्म में ‘अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।’— मनरूपी अधिष्ठाता के माध्यम से पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा यह विषयों में प्रवृत्त हो जाता है। शरीर छोड़कर जाते हुए, पुनः शरीर धारण करते हुए, विषयों में प्रवृत्त होते हुए अथवा तीनों गुणों से युक्त हुए जीवात्मा को ‘विमूढा नानुपश्यन्ति’— मूढ़ लोग नहीं जानते। ‘पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः’— ज्ञानरूपी नेत्रवाले भली प्रकार जानते हैं। इधर शरीर छूटा, उधर मिला। अन्तिम संस्कार के मिटते ही शरीरों के पुनर्निर्माण पर विराम लग जाता है। साधक आत्मदर्शन, स्पर्श और स्थिति पा जाता है। वही है आपका स्वरूप! इसे पहचानो।

गीता के अनुसार आत्मा ही सत्य है। विधाता और उससे उत्पन्न सृष्टि नश्वर है। आत्मा, परमात्मा, ईश्वर और ब्रह्म पर्यायवाची शब्द हैं। आत्मा सनातन है, शाश्वत है। इस आत्मतत्त्व को प्राप्त करने के लिए नियत विधि यज्ञ कहलाता है और उस यज्ञ को क्रियान्वित करना कर्म कहलाता है।

यज्ञ का नाम लेते ही लोगों का ध्यान अग्नि जलाने, धुआँ करने, तिल-जौ डालने और संस्कृत में कुछ मंत्र पढ़ने की ओर चला जाता है। एक बार हम राजस्थान गये। वहाँ यज्ञ हो रहा था। विशालकाय धूने में हवन हो रहा था। कोई मन्त्र पढ़ रहा था— “थे जाम्बो जी महाराज! थे म्हारा दुःख दूर किया, ॐ नमः स्वाहा। थे जाम्बो जी महाराज! थाने म्हारी घणी खम्मा, ॐ नमः स्वाहा। हे जाम्बो जी महाराज! तुम्हीं भवसागर के तारणहार हो, ॐ नमः स्वाहा।...” हमारा ध्यान उधर गया। हमने पूछा— क्या यह संस्कृत बोल रहा है? उन लोगों ने कहा— महाराज! संस्कृत से हमें क्या लेना-देना! जो हमारा भाव है, वह हम कह रहे हैं।

गीता में भगवान् कहते हैं— भौतिक द्रव्यों से सिद्ध होनेवाला यज्ञ अति अल्प है। है अवश्य! उससे पुण्य-सृजन तो होता ही है। आप करोड़ों का हवन करें फिर भी अति अल्प है। अध्याय चार में श्रीकृष्ण ने तेरह-चौदह तरीके से यज्ञ का वर्णन किया जो सब मिलाकर परमात्मा में प्रवेश दिला देनेवाली विधि-विशेष का चित्रण है। बहुत से योगी इन्द्रियों के बहिर्मुखी प्रवाह को संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं, बहुत से योगी शब्दादि विषयों को 'इन्द्रियाग्निषु जुह्वति'— इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन कर देते हैं अर्थात् विषयोत्तेजक शब्दों का साधनापरक आशय बनाकर ग्रहण करते हैं। बहुत से योगी श्वास-प्रश्वास का यजन करते हैं, श्वास-प्रश्वास की गति रोककर प्राणायाम परायण हो जाते हैं। उनके प्राणों के व्यापार पर विराम लग जाता है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार— इन चारों का क्रियाकलाप प्राणों का व्यापार कहलाता है। न मन संकल्प करे, न चित्त चिन्तन करे, न बुद्धि निर्णय दे, न अहंकार का ही कोई स्थान रह गया— जहाँ इन सब पर विराम लगा, तहाँ प्राणायाम की स्थिति आ गयी। यह चित्त की भली प्रकार निरोधावस्था है। इस निरोध के साथ ही यज्ञ का परिणाम निकल आता है—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ (4/31)

अर्जुन! पूर्तिकाल में यज्ञ जो अवशेष छोड़ता है अर्थात् प्राणों के व्यापार को विराम, मन की निरोधावस्था और निरोध के साथ यज्ञ का परिणाम (अवशेष) बचता है, वह है ज्ञानामृत! आत्मा अमृततत्त्व है, शाश्वत सत्य है, मृत्यु से परे है। उस आत्मा का प्रत्यक्ष होना और उसके साथ मिलनेवाली जानकारी ज्ञानामृत है। उस ज्ञानामृत का पान करनेवाला योगी सनातन ब्रह्म में स्थित हो जाता है।

यज्ञ का परिणाम या अवशेष यह नहीं कि दस कुन्तल आटा और घी बच गया, उसका उपयोग करें। नहीं, यज्ञ का परिणाम है मृत्यु से परे अमृततत्त्व, काल से परे अकाल पुरुष का दर्शन, दर्शन के साथ मिलनेवाली जानकारी— अमृत का पान। इस ज्ञानामृत का पान करनेवाला योगी तत्क्षण सनातन ब्रह्म में स्थित हो जाता है। भजन पूरा होने पर सनातन ब्रह्म में स्थिति आपका स्वरूप है। तभी आप वस्तुतः जान पायेंगे कि मैं कौन हूँ? महापुरुषों का आशय केवल इतना ही है कि भजन करो, इस राह पर चलो और अपने को पहचानो।

भजन करने का अधिकार किसे है? इसमें हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, बौद्ध, जैन, सिख, शैव, शाक्त, वैष्णव या किसी सम्प्रदाय का विशेषाधिकार नहीं है; किसी वेशभूषा, भाषा, परम्परा, प्रथा का सहयोग नहीं है। आप केवल श्रद्धा और समर्पण के साथ लग भर जायँ, सृष्टि में कहीं भी आपका जन्म हुआ है, आप प्राप्त कर लेंगे। **‘नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तमा’** (4/31)— अर्जुन! यज्ञरहित पुरुष के लिए मानव-तन भी सुलभ नहीं तो परलोक कैसे सुलभ होगा। भगवान श्रीकृष्ण सचेत करते हैं— **‘अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्’** (9/33)— अर्जुन! सुखरहित, क्षणभंगुर किन्तु दुर्लभ मानव-तन को प्राप्त कर मेरा भजन कर अर्थात् भजन का अधिकार उन सबको है जिन्हें मानव-तन उपलब्ध है।

गीता के अनुसार योगविधि यज्ञ है और उसे क्रियान्वित करना कर्म है। कर्म का अर्थ है आराधना, कर्म का आशय है चिन्तन! कर्म की अनिवार्यता पर भगवान ने कहा— अर्जुन! इस कर्म को किये बिना न कभी किसी ने परमात्मा को पाया है और न भविष्य में कोई प्राप्त कर सकेगा। प्रश्न स्वाभाविक है कि हम-आप सदैव कर्म करते ही रहेंगे या कभी इससे छुटकारा भी मिलेगा। इस आशंका का निवारण करते हुए भगवान कहते हैं— अर्जुन! यज्ञ के परिणाम में जिसकी आत्मा विदित है, जो आत्मतृप्त है, आत्मस्थित है, उस पुरुष के लिए किञ्चित् भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्य नहीं है (3/17)। अब कर्म करने से उसका न कोई लाभ है और कर्म छोड़ देने से उसको कोई क्षति भी नहीं है। ऐसा योगी अपने सहज स्वरूप में स्थित है। फिर भी ऐसे महापुरुष पीछेवालों के हित की इच्छा से भली प्रकार कर्म में बरतते हैं।

ऐसे महापुरुष से अपनी तुलना करते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं— अर्जुन! मुझे भी तीनों लोकों में प्राप्त होने योग्य कोई वस्तु अप्राप्य नहीं है, फिर भी मैं पीछेवालों के हित की इच्छा से भली प्रकार कर्म में बरतता हूँ। यदि मैं सावधान होकर कर्म में न बरतूँ तो मेरा अनुकरण कर समाज वर्णसंकर हो जायेगा और मैं समाज का हनन करनेवाला कहलाऊँगा। इसलिए महापुरुष को चाहिए कि कर्मों में आसक्त अज्ञानियों में बुद्धिभेद उत्पन्न न करें। वे स्वयं कर्म करते हुए उनसे करायें क्योंकि कर्म करके ही परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त किया

जा सकता है। परम नैष्कर्म्य की स्थिति वह है जहाँ आत्मा विदित है, आत्मतृप्ति है, आत्मस्थिति है, सदा रहनेवाला जीवन और सदा रहनेवाली शान्ति है। यही आपका स्वरूप है कि मैं कौन हूँ।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा— **‘व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।’** (2/41)— अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में क्रियात्मक बुद्धि एक ही है। तब जो लोग बहुत-सी क्रियाएँ बताते हैं, क्या वे भजन नहीं करते? श्रीकृष्ण कहते हैं— हाँ, वे भजन नहीं करते। **‘बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्ध्योऽव्यवसायिनाम्।’**— उन अविवेकियों की बुद्धि अनेक शाखाओंवाली होती है इसलिए वे अनन्त क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं। वे वेद के वाक्यों में अनुरक्त, स्वर्ग को ही श्रेष्ठ मानते हैं, भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए बहुत-सी क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं, दिखावटी शोभायुक्त वाणी में व्यक्त भी करते हैं। उनके वाणी की छाप जिन-जिन के चित्त पर पड़ जाती है, उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है, न कि वे कुछ पाते हैं। वे जन्म-मृत्युरूपी फल पाते हैं— बार-बार जन्म और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अस्तु, समाधि सम और आदितत्व में प्रवेश दिलानेवाली निश्चयात्मक क्रिया एक है— गीतोक्त साधन। इसी से आपको अपने स्वरूप की प्राप्ति होगी, अन्य कोई उपाय नहीं है।

भगवान श्रीकृष्ण ने ज्ञानमार्ग में दो फल बताया— **‘हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।’**— हारने पर देवत्व और जीतने पर महामहिम स्थिति; किन्तु निष्काम कर्ममार्ग में केवल एक फल— मेरी प्राप्ति, सदा रहनेवाली शान्ति और सदा रहनेवाला जीवन। यही आपका स्वरूप है। इसलिए कुछ भी क्रिया गढ़ लेने से साधना नहीं होती। साधना एक नियत कर्म है— **‘नियतं कुरु कर्म त्वम्’**। आप ‘यथार्थ गीता’ चार-छः बार पढ़ लें तो नियत कर्म समझ में आ जायेगा। ‘मैं कौन हूँ?’ पा जाएँगे।

गीता के अनुसार मनुष्य दो प्रकार का होता है। आपका जन्म भारत में हुआ हो या आस्ट्रेलिया में, ध्रुव प्रदेश में हुआ हो या अरब में; प्रकार केवल दो हैं— या तो आप प्रकृति की ओर उन्मुख होंगे अथवा परमात्मा की ओर। शास्त्रों में इसी को दो मार्ग कहा गया है— निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग। निवृत्ति मार्ग वह है जिससे चलने पर आपको संसार-बन्धन से निवृत्ति मिल जाती है। प्रवृत्ति

मार्ग सांसारिक विषय भोगों में सदा प्रवृत्त करता है— सदा चलते रहें, चाल कभी नहीं रुकेगी और पहुँचेंगे कहीं नहीं। यह आवागमन का रास्ता है, भवाटवी है।

कोई किसी मार्ग का अनुयायी क्यों होता है? भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं— मनुष्यों का स्वभाव दो प्रकार का होता है— देवताओं जैसा या असुरों जैसा! उन्होंने दैवी सम्पद् के लक्षण गिनाये जो साधना के अंग-उपांग हैं; जैसे— भय का अभाव, अन्तःकरण की शुद्धि, ध्यान में दृढ़ स्थिति, सर्वस्व का समर्पण, इन्द्रियों का दमन इत्यादि 26 लक्षण गिनाये। **‘दैवी सम्पद् विमोक्षाय’** (16/5)— दैवी सम्पद् परम कल्याण के लिए है। अर्जुन! तू शोक मत कर। तू दैवी सम्पद् को प्राप्त हुआ है, तू मुझे प्राप्त होगा, मेरे अविनाशी सहज स्वरूप को प्राप्त होगा। यही आपका भी स्वरूप है अर्थात् जिसके हृदय में दैवी सम्पद् कार्यरत है, वह जान सकेगा कि वह कौन है।

भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार आसुरी सम्पद् जिसमें कार्यरत है, वह कहता है— मैं ही ईश्वर हूँ और ऐश्वर्य का भोक्ता हूँ। वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया, उसको मारूँगा। मेरे पास इतना धन है, इतना और होगा। मैं बड़े कुटुम्बवाला हूँ। मैं दान करूँगा, यज्ञ करूँगा। षड्विकार उसके प्रेरक हैं। कभी पूर्ण न हों, ऐसी अनन्त इच्छाओं और वासनाओं में वह प्रवृत्त रहता है, नाममात्र के यज्ञों द्वारा पाखण्ड से यजन करता है। वह जन्म-मृत्युरूपी अनन्त योनियों में भटकता ही रहता है।

यज्ञ और उसकी विधि योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता, 4/24-33 तथा 6/10-17 में बताया है जिसे हृदयंगम करने के लिए गीताभाष्य ‘यथार्थ गीता’, ‘जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति’, ‘शंका-समाधान’ इत्यादि आश्रमीय साहित्य का अनुशीलन उपयोगी है। वस्तुतः मध्यकालीन भारत में राजनीतिक उथल-पुथल के कारण जनता से शिक्षा का अधिकार छीन लिया गया कि सब संस्कृत नहीं पढ़ सकते, आदि धर्मशास्त्र गीता घर में नहीं रख सकते, गौरवपूर्ण इतिहास महाभारत कानों से सुन नहीं सकते। शिक्षाशून्य समाज में रूढ़ियाँ पनप जाया करती हैं। महापुरुषों का आशय तिरोहित हो जाता है। उसके स्थान पर तरह-तरह की क्रियाएँ प्रचलन में आ जाती हैं। यही कारण है कि ‘पश्यन्ती’, ‘प्राणापान’, ‘प्राणायाम’ या योग के नाम पर अनेकानेक भ्रान्त धारणाएँ हैं। कोई कहता है,

साक्षी भाव से श्वास देखो तो कोई संकल्पों-विचारों को देखते-परखते मनोनिग्रह की बात करता है। कोई आँख बन्द कर उसे दबाकर तरह-तरह की रोशनी देखने का प्रयास करता है, तो कोई कान को उँगली से बन्दकर तरह-तरह की ध्वनियों पर ध्यान केन्द्रित करने को कहता है। ऐसे कहीं मन वश में होता है? 'तुलसी मन वश होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजे।'— मन तब वश में होता है जब प्रेरक के रूप में प्रभु हृदय से रथी होकर स्वयं रोकथाम करें। भजन जागृत हुआ नहीं, भगवान हृदय से रथी नहीं हुए, कोई प्रेरक मार्गदर्शक मिला नहीं तो मन कैसे वश में हो जायेगा?

आदिशास्त्र गीता में भगवान ने कहा है कि मुझमें ही निरन्तर चित्त को लगानेवाले भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए मैं उनकी आत्मा से खड़ा होकर अज्ञान से उत्पन्न अंधकार को ज्ञानरूपी दीपक द्वारा प्रकाशित कर नष्ट करता हूँ। वस्तुतः किसी महापुरुष द्वारा जब तक वह संचालन नहीं करता, रोकथाम नहीं करता, प्रकृति के द्वन्द्व से निकालते हुए स्वयं आगे नहीं ले चलता तब तक वास्तव में यथार्थ भजन आरम्भ ही नहीं होता। (गीता, 10/8-11)

'गो गोचर जहँ लागि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।'— इन्द्रियों और इन्द्रियों के विषय-भोगों में जहाँ तक मन कल्पना कर सकता है, बुद्धि निर्णय लेती है, वह सब-का-सब मायिक क्षेत्र का ही निर्णय है। भगवान तो मन-बुद्धि से परे हैं। मन से कल्पना कर आप कैसे जान पायेंगे कि मैं कौन हूँ? मनसहित इन्द्रियों के निरोध से भगवान में श्रद्धा और समर्पण से भजन जागृत होता है। तत्वज्ञ महापुरुषों की परिचर्या से भजन जागृत होता है। वह प्रभु हृदय से रथी होते हैं तभी दिखायी पड़ते हैं। अर्जुन को उन्होंने दिव्यदृष्टि दी, तभी वह देख पाया।

आजकल किसी ने आज घर छोड़ा, दो-चार महीने में सीख लेते हैं कि मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, मैं देह नहीं आत्मा हूँ। संसार मृग-मरीचिका है। जब तक याददाश्त में नहीं आता, वह साधक है अन्यथा सिद्ध! भगवान कहीं है भी तो उससे हल्के ही होंगे। हो गया भजन पूरा। इस प्रकार **'व्यर्थ मरहु जनि गाल बजाई। मन मोदकन्हि कि भूख बुताई॥'**— मन के लड्डू खाने से कहीं भूख मिटती है?

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।

इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ (3/6)

जो कर्मेन्द्रियों को हठ से रोककर इन्द्रियों के भोगों का मन से स्मरण करते रहते हैं, वे मिथ्याचारी हैं, पाखण्डी हैं न कि ज्ञानी। केवल कहने से कुछ नहीं होता। बिना कर्म किये न कोई पाया है, न प्राप्त कर सकेगा। भगवान् श्रीकृष्ण ने बताया—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ (15/20)

हे निष्पाप अर्जुन! यह गोपनीय से भी अति गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। इसे जानकर तू समग्र कैवल्य ज्ञान, सहज शान्ति और परमश्रेय को प्राप्त हो जाओगे। यह स्वरूप की प्राप्ति ही आपका स्वरूप है, वही आप हैं।

इसके अतिरिक्त क्या और भी कोई साधना-पद्धति है? लोग कहते हैं— 'नदिया एक घाट बहुतेरे'। वस्तुतः ऐसा कुछ भी नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ (16/23)

इस शास्त्रविधि को त्यागकर अन्य-अन्य विधियों से जो भजते हैं, उनके जीवन में न सुख है, न सिद्धि है और न परमगति ही है। वह इन सबसे वंचित हो जाता है। इसलिए—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ (16/24)

इसलिए तुम्हारे कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में यह (गीता) शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर इस शास्त्रविधि से नियत किए हुए कर्म को ही तुझे करना योग्य है।

महापुरुषों की वाणियाँ साधना और साधक के स्तरभेद से भी भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हैं। स्वरूप की मस्ती या स्वरूप का अनुसंधान उन अत्युन्नत साधकों

के लिए स्वाभाविक है जिन्होंने आत्मदर्शन कर लिया है, केवल स्वरूप में प्रवेश और स्थिति ही शेष है। सामान्य साधकों में कहीं भ्रम न हो जाय, इसलिए गीता में आत्मदर्शन की नियत विधि यज्ञ को क्रियान्वित करनेवाले कर्म को चार श्रेणियों में बाँट दिया गया है जिसे वर्ण कहते हैं। भगवान ने कहा—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ (4/13)

अर्जुन! चार वर्णों की संरचना मैंने की। तो क्या इन मनुष्यों को चार श्रेणियों में बाँट दिया? भगवान कहते हैं— नहीं, ‘गुणकर्म विभागशः’— गुणों के माध्यम से हमने कर्म को चार भागों में बाँटा। जो सामग्री विभाजित की गयी है वह है कर्म। यदि गीतोक्त कर्म समझ में आ जाय तो बाँटवारा भी समझ में आ जायेगा। गीता का कर्म है आराधना।

‘गुणकर्म विभागशः’— गुण एक पैमाना है। यदि तामसी गुण का बाहुल्य है तो आलस्य-निद्रा-प्रमाद रहेगा, कर्तव्य समझ में ही नहीं आयेगा। समझ आ भी गयी तो प्रवृत्ति नहीं होगी। मानव-तन तो हमें मिला किन्तु ऐसी दशा में हमारा कल्याण कैसे हो? ‘परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।’ (18/44)— जो महापुरुष हैं, सद्गुरु हैं, उनकी सेवा-शरण-सान्निध्य, श्रद्धा और समर्पण से जो टूटी-फूटी सेवा आपसे पार लगे, करें। आपका स्तर उठ जायेगा, विधि जागृत हो जायेगी, इन्द्रिय संयम सधने लगेगा, आत्मिक सम्पत्ति एकत्र होने लगेगी— आप वैश्य श्रेणी के हो जायेंगे। क्रमशः भली प्रकार संघर्ष झेलने की क्षमता आ गयी, राजसी गुणप्रधान क्षत्रिय हो गये। उच्च स्तर पर शत्रु ही समाप्त हो गये, ब्रह्म में विलय की योग्यता आ गयी तो ब्राह्मण—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ (18/42)

मन का शमन, इन्द्रियों का दमन, मनसहित इन्द्रियों को इष्ट के अनुरूप तपाना ‘तप’; ‘स्वाध्याय’— स्वयं का अध्ययन कि कितना भजन कर पाया और कितनी कमी रह गयी उसका निवारण करते हुए आगे बढ़ना; धारणा, ध्यान, समाधि, अनुभवी उपलब्धि इत्यादि जिसके स्वभाव में ढल गया हो, वह ब्राह्मण है। उसमें ब्रह्म में विलय की योग्यता है किन्तु यह ब्राह्मण श्रेणी भी अपूर्ण है।

जब ब्रह्म का दर्शन, उसमें प्रवेश, विलय और स्थिति मिल जाय तहाँ श्रेणियाँ समाप्त! भजन भी समाप्त! वही है आपका स्वरूप। उस स्तर पर आप जान पायेंगे कि मैं कौन हूँ। जब भगवान श्रीकृष्णोक्त साधन-क्रिया उपलब्ध है तो स्वरूप के लिये या 'मैं कौन हूँ?' के लिए अटकल लगाने की क्या आवश्यकता?

गीता-समापन के समय भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं— अर्जुन! परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष जैसे ब्रह्म को प्राप्त होता है, उसे संक्षेप में जान कि एकान्त देश का सेवन करनेवाले, साधना में जितना सहायक हो उतना ही आहार करनेवाले, जीते हुए मन, वाणी और शरीरवाले पुरुष के काम-क्रोधादि विकार जब सर्वथा शान्त हो जाते हैं, विवेक-वैराग्य-शम-दम इत्यादि ब्रह्म में प्रवेश दिला देनेवाली योग्यताएँ जब पूर्णतया परिपक्व हो जाती हैं, उस समय वह ब्रह्म को जानने के योग्य होता है। उस योग्यता का नाम पराभक्ति है। इस पराभक्ति द्वारा वह तत्त्व को जानता है। तत्त्व है क्या? वह मुझे जानता है और मुझे जानकर तत्क्षण मुझमें ही स्थित हो जाता है। प्राप्तिकाल में तो भगवान दिखायी पड़ते हैं किन्तु प्राप्ति के साथ ही वह अपने आत्मरूप को उन ईश्वरीय गुणधर्मों से युक्त पाता है कि आत्मा ही अजर, अमर, शाश्वत, अव्यक्त और सनातन है। यही आपका स्वरूप है। (अध्याय 18/49-55, यथार्थ गीता)

गीता के आरम्भ में ही योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा था कि अर्जुन! असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है, उसे रोका नहीं जा सकता और सत्य का तीनों कालों में अभाव नहीं है, उसे मिटाया नहीं जा सकता। देह नाशवान है, इसमें आत्मा ही अविनाशी है, सत् है। दोनों के इस रहस्य को तत्त्वदर्शियों ने देखा कि आत्मा ही सनातन है। तत्त्व के नाम पर बहुत से लोग पाँच तत्त्व और पचीस तत्त्व की गणना करने लगते हैं जबकि श्रीकृष्ण ने बताया कि परमतत्त्व है परमात्मा! जो उस परमात्मा को जानता है, वही तत्त्वदर्शी है। अब यदि आपको तत्त्व की चाह है, अजर-अमर-शाश्वत स्वरूप की चाह है तो गीतोक्त साधना-नियत कर्म का आचरण अपरिहार्य है।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ (9/11)

मैं परमतत्त्व परमात्मा का स्पर्श कर परमभाव में स्थित हूँ, किन्तु हूँ मनुष्य शरीर के आधारवाला! इसलिए मूढ़ लोग मुझे नहीं जानते, मुझे मनुष्य और तुच्छ कहकर पुकारते हैं। इस परम का स्पर्श करने पर जो स्थिति है, वही आपका स्वरूप है।

अर्जुन! दैवी सम्पद् से युक्त भक्तजन 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।' (9/26)— पत्र, पुष्प, फल, जल श्रद्धा से जो भी मुझे अर्पित करते हैं, उसका मैं सेवन करता हूँ। मेरे प्रति समर्पित होने से तू कर्मों के बन्धन से मुक्त होकर मुझे प्राप्त होगा (9/28)। यही आपका स्वरूप है। इसे प्राप्त करने के लिए साधना तो एक ही है— गीतोक्त साधना!

गीता के सोलहवें अध्याय के अन्त में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि इस शास्त्रविधि को त्यागकर जो मनमाना आचरण करते हैं, उनके लिए न सुख है, न सिद्धि है और न परमगति ही है; किन्तु यह आवश्यक नहीं कि सभी इस गीताशास्त्र से परिचित हों। इसलिए अर्जुन ने प्रश्न किया कि गोविन्द! इस शास्त्रविधि से रहित किन्तु श्रद्धा से युक्त होकर जो भजते हैं, उनकी क्या गति होती है? (गीता, 17/1) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा— अर्जुन! पुरुष श्रद्धामय होता है। ऐसा पुरुष संसार में जन्मा ही नहीं जिसमें श्रद्धा न हो। तामसी श्रद्धावाले भूत और प्रेतों को भजते हैं। भूत का यह अर्थ नहीं कि कोई श्मशान में पड़ा हो, पीपल में लटका हो। यह वेदोक्त पवित्र शब्द है। भूत का अर्थ है जीवित प्राणी, जैसे— पति-पत्नी-बच्चों में श्रद्धा होना। दादा-परदादा, माता-पिता जो मर गये हैं, उनमें श्रद्धा प्रेत-श्रद्धा है, प्रेत-पूजा है। राजसी श्रद्धावाले यक्ष-राक्षसों को पूजते हैं जिससे उनकी यशोवृद्धि हो, सुरक्षा हो। अधिकारियों की पूजा इसी श्रेणी में है। सात्त्विक श्रद्धावाले देवताओं को पूजते हैं। हृदय-देश में दैवी सम्पद् का उत्कर्ष देवपूजा की गीतोक्त विधि है किन्तु यहाँ गीता-शास्त्रविधि से रहित देवपूजा की चर्चा है जो बाह्य देवताओं की पूजा है जिसके लिए भगवान ने कहा है कि कामनाओं से जिनकी बुद्धि आक्रान्त है, ऐसे मूढ़बुद्धि वाले अन्य-अन्य देवताओं की पूजा करते हैं। वे घोर तप करते हैं किन्तु अन्तर्यामी रूप से स्थित मुझ परमात्मा को कृश करनेवाले हैं। भगवान और उनके बीच दूरियाँ बढ़ती जाती हैं। ये आवागमन में चलते ही रहते हैं। सृष्टि में मानव का यही

स्वरूप है। अधिकांश लोग यहीं खड़े हैं। 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।'— जगत् रूपी रात्रि में संयमी पुरुष जग जाता है। इस जागृति से पूर्व वह जैसी श्रद्धावाला है, वही उसका स्वरूप है, स्वयं भी वही है।

इसी को महर्षि पतञ्जलि ने अपने 'योगदर्शन' में कहा— योग है क्या? तो 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।' (समाधिपाद, सूत्र 2)— चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। मान लें, किसी ने श्रम किया, निरोध कर ही लिया तो उससे क्या लाभ है? महर्षि बताते हैं— 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।' (समाधिपाद, सूत्र 3)— उस समय द्रष्टा यह जीवात्मा अपने सहज परमात्मस्वरूप में स्थित हो जाता है। यही आपका स्वरूप है जिसे आपको पाना है। किन्तु स्वरूप में स्थिति से पूर्व क्या यह आत्मा मलिन है? महर्षि कहते हैं, नहीं, 'वृत्ति-सारूप्यमितरत्र।' (समाधिपाद, सूत्र 4)— अर्थात् दूसरे समय में जैसा वृत्ति का प्रवाह है, उसी के समरूप पुरुष का स्वरूप है, वही आपका रूप है। इसी का नाम जीवात्मा है। यही गीता में भी है— 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके' (गीता, 15/16)— अविद्या जिसका क्षेत्र है, अज्ञान जिसकी जानकारी है, वह क्षर पुरुष जीवात्मा है। विद्या जिसका क्षेत्र है ज्ञान (वास्तविकता) ही जिसकी जानकारी है, वह अक्षर पुरुष ईश्वरात्मा है। विद्या-अविद्या से परे जिसका क्षेत्र है, ज्ञान-अज्ञान से परे सर्वव्याप्त जिसकी जानकारी है, वह अनिर्वचनीय पुरुष परमात्मा पुरुषोत्तम कहलाता है। साधना की इस चरमोत्कृष्ट अवस्था में समझ में आता है कि मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ?

गोस्वामी तुलसीदास जी ने संसार का चित्रण इन शब्दों में किया है—

जग नभ वाटिका रही है फलि फूलि रे।
धुआँ के से धौरहर देखि तू न भूलि रे॥

जगत् एक आकाशीय वाटिका है। उमड़-धुमड़कर बादलों में कभी हाथी तो कभी घोड़ा, कभी बगीचा तो कभी महल जैसा दृश्य बनता-मिटता रहता है। वहाँ महल या वाटिका जैसी कोई वस्तु नहीं। धुएँ के महलों को देखकर आप उसमें खो न जायँ। यह जगत् अनित्य है, नश्वर है। उस प्रभु को जान लेने के पश्चात् जगत् खो जाता है, प्रकृति पुरुषोत्तम में बदल जाती है। आपका स्वरूप वही है— आत्मदर्शन, स्पर्श और स्थिति।

हमारा रास्ता कौन? इस पर महाभारतकार महर्षि वेदव्यास का निर्णय है कि 'तर्कोऽप्रतिष्ठो श्रुतियोर्विभिन्ना, नैकोमुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।'— तर्क अप्रतिष्ठित है। एक तर्क दूसरे तर्क से कट जाता है। 'श्रुतियोर्विभिन्ना'— श्रुतियाँ पात्रों की क्षमता के अनुसार भिन्न-भिन्न उपदेश करती हैं। 'नैकोमुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्'— एक भी मुनि ऐसा नहीं है जिसका सिद्धान्त दूसरे से मेल खाता हो। 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'— धर्म का तत्त्व कन्दराओं में महर्षियों के पास है जो शान्त एकान्त में चिन्तनरत हैं। इसलिए 'महाजनः येन गतः स पन्था'— भगवान के अन्तरंग भक्तजन जिन्होंने उस महान सत्ता का स्पर्श किया है, उनके पदचिह्नों का अनुसरण ही एकमात्र मार्ग है।

गोस्वामी तुलसीदास जी के अनुसार उस कर्तव्य-पथ का सार भगवान का भजन है— 'जो पै लगन राम सो नाही'— यदि भगवान में प्रीति नहीं है 'तौ नर खर कूकर शूकर सम वृथा जियत जग माहीं।'— यदि श्रद्धापूर्वक अपने को भगवान से नहीं जोड़ा तो वह नर खर अर्थात् गधा, कूकर अर्थात् कुत्ता और शूकर अर्थात् सुअर के समान संसार में व्यर्थ ही जी रहा है।

मानव-तन की सार्थकता क्या है? इस पर कहते हैं—

**काम क्रोध मद लोभ नींद भय भूख प्यास सबहीं के।
मनुज देह सुर साधु सराहत, सो सनेह सिय पी के॥**

काम, क्रोध, मद, लोभ, भूख-प्यास इत्यादि संवेग तो जीव-जन्तुओं में भी पाये जाते हैं किन्तु देवता और संतों ने मानव-तन की जो अत्यधिक सराहना की है वह केवल परमात्म-प्रेम के कारण ही है।

सूर सुजान सुपूत सुलच्छन गनियत गुन गरुआई।

बिनु हरि भजन इन्दारुन के फल तजत नहीं करुआई॥

व्यक्ति शूरवीर, सज्जन, सुपुत्र, शुभ लक्षणों से सम्पन्न तथा इतने अधिक गुणों से सम्पन्न हो कि गणना भारी पड़ जाय किन्तु यदि उसमें हरि का भजन नहीं है तो इन्द्रायण के फल के समान उसकी कड़वाहट दूर नहीं हो सकती, वह त्याज्य है। इन्द्रायण खरबूजे के आकार का सुन्दर किन्तु अत्यन्त कटु फल है। जिह्वा से स्पर्श हो जाने पर दो-तीन दिनों तक अन्य किसी स्वाद का बोध नहीं होता।

संसार में कोई पाता है क्या? इस पर कहते हैं—

**कीरति कुल करतूति भूति भल शील सरूप सलोने।
तुलसी प्रभु अनुराग रहित जस सालन साग अलोने॥**

(विनय पत्रिका, पद 175)

उत्तम कुल, श्रेष्ठ आचरण, ऐश्वर्य विभूतियाँ, रूप-चरित्र, सबकुछ होने पर भी यदि भगवान के प्रति अनुराग नहीं है तो वह व्यक्ति वैसा ही फीका है जैसे षड्रस और छप्पनों प्रकार के व्यंजन, साग-सब्जियाँ नमक के बिना स्वादहीन हो जाती हैं। इसलिए इस नश्वर संसार में एक परमात्मा का भजन ही सार है। यही मार्ग है जिस पर चलकर इस प्रश्न का समाधान सम्भव है कि 'मैं कौन हूँ?'।

वर्तमान में शरीर एक वस्त्र है, कल की गारण्टी नहीं। वृत्तियों के साथ बदलता हुआ आपका स्वरूप! किन्तु एक ऐसा भी स्वरूप है जिसे प्राप्त कर लेने के पश्चात् परिवर्तन नहीं होता, जहाँ जन्म नहीं, मृत्यु नहीं, सदा रहनेवाला स्वरूप और सदा रहनेवाली शान्ति है। अच्छा होगा इन दोनों में आप स्वयं निर्णय कर लें कि मैं कौन अर्थात् मेरा स्तर क्या है और स्वरूप तक पहुँचने की साधना विधि क्या है? यदि 'यथार्थ गीता' चार-छः बार पढ़ लेंगे तो साधना समझ में आ जायेगी। परमात्म-स्वरूप की दूरी को तय करने के लिए गीतोक्त साधना अनिवार्य है। यह गीतोक्त साधना यज्ञ की प्रक्रिया, नियत कर्म भगवान के मार्गदर्शन में चलने पर ही सम्पन्न होता है, अन्य कोई मार्ग नहीं। श्रद्धा के साथ गीताभाष्य 'यथार्थ गीता' पढ़ें तो भगवान रास्ता बतायेंगे, गुरु भी देंगे।

॥ ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय! ॥

‘श्रीमद्भगवद्गीता’ की साधना

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्युरुषः परः॥ (१३/२२)

वह पुरुष ‘उपद्रष्टा’ – हृदय-देश में बहुत ही समीप, हाथ-पाँव-मन जितना आपके समीप है उससे भी अधिक समीप द्रष्टा के रूप में स्थित है। उसके प्रकाश में आप भला करें, बुरा करें, उसे कोई प्रयोजन नहीं है। वह साक्षी के रूप में खड़ा है। साधना का सही क्रम पकड़ में आने पर पथिक कुछ ऊपर उठा, उसकी ओर बढ़ा तो द्रष्टा पुरुष का क्रम बदल जाता है, वह ‘अनुमन्ता’ – अनुमति प्रदान करने लगता है, अनुभव देने लगता है। साधना द्वारा और समीप पहुँचने पर वही पुरुष ‘भर्ता’ बनकर भरण-पोषण करने लगता है, जिसमें आपके योगक्षेम की भी व्यवस्था कर देता है। साधना और सूक्ष्म होने पर वही ‘भोक्ता’ हो जाता है। ‘भोक्तारं यज्ञ तपसाम्’ – यज्ञ, तप जो कुछ भी बन पड़ता है, सबको वह पुरुष ग्रहण करता है। और जब ग्रहण कर लेता है, उसके बाद वाली अवस्था में ‘महेश्वरः’ – महान् ईश्वर के रूप में परिणत हो जाता है। वह प्रकृति का स्वामी बन जाता है; किन्तु अभी कहीं प्रकृति जीवित है तभी उसका मालिक है। इससे भी उन्नत अवस्था में वही पुरुष ‘परमात्मेति चाप्युक्तो’ – जब परम से संयुक्त हो जाता है, तब परमात्मा कहलाता है। इस प्रकार शरीर में रहते हुए भी यह पुरुष आत्मा ‘परः’ ही है, सर्वथा इस प्रकृति से परे ही है। अन्तर इतना ही है कि आरम्भ में यह द्रष्टा के रूप में था, क्रमशः उत्थान होते-होते परम का स्पर्श कर परमात्मा के रूप में परिणत हो जाता है।

– ‘श्रीमद्भगवद्गीता’ भाष्य ‘यथार्थ गीता’ से साभार

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास)

अंधेरी (पूर्व), मुम्बई – 400069 फोन - (022) 28255300

ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com वेबसाइट - www.yatharthgeeta.com